E-Content
M. A. III Semester
C C: 12:
Human and Social Geography

सामाजिक प्रक्रम

प्रक्रम (process) गति का सूचक है। किसी भी वस्तु की आंतरिक बनावट में भिन्नता आना परिवर्तन है। जब एक अवस्था दूसरी अवस्था की ओर सुनिश्चित रूप से अग्रसर होती है तो उस गति को प्रक्रम कहा जाता है। इस अर्थ में जीव की अमीबा से मानव तक आने वाली गति, भूप्रस्तरण (stratification) की क्रियाएँ तथा तरल पदार्थ का वाष्प में आना प्रक्रम के सूचक हैं। प्रक्रम से ऐसी गति का बोध होता है जो कुछ समय तक निरंतरता लिए रहे। सामान्य जगत् में जड़ और चेतन, पदार्थ और जीव में आने वाले ऐसे परिवर्तन प्रक्रम के द्योतक हैं। इस प्रकार प्रक्रम शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है।

प्रक्रम के इस मूल ग्रंथ के उपयोग सामाजिक जीवन के समझने के लिए किया गया है। सामाजिक शब्द से उस व्यवहार का बोध होता है जो एक से अधिक जीवित प्राणियों के पारस्परिक संबंध को व्यक्त करे, जिसका अर्थ निजी न होकर सामूहिक हो, जिसे किसी समूह द्वारा मान्यता प्राप्त हो और इस रूप में उसकी सार्थकता भी सामूहिक हो। एक समाज में कई प्रकार के समूह हो सकते हैं जो एक या अनेक दिशाओं में मानव व्यवहार को प्रभावित करें। इस अर्थ में सामाजिक प्रक्रम वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था अथवा सामाजिक क्रिया की कोई भी इकाई या समूह अपनी एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर निश्चित रूप से कुछ समय तक अग्रसर होने की गति में हो।

सामाजिक परिवर्तन के प्रकार

एक दृष्टि से विशिष्ट दिशा में होने वाले परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था के एक भाग के अंतर्गत देखे जा सकते हैं तथा दूसरी से सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से। प्रथम प्रकार के परिवर्तन के तीन रूप हैं-

(1) **आकार के आधार पर संख्यात्मक रूप से परिभाषित** - जनसंख्या की वृद्धि, एक स्थान पर कुछ वस्तुओं का पहले से अधिक संख्या में एकत्र होना, जैसे अनाज की मंडी में बैलगाड़ियों या ग्राहकों का दिन चढ़ने के साथ बढ़ना, इसके उदाहरण हैं। मैकईश्वर ने इसके विपरीत दिशा में उदाहरण नहीं दिए हैं, किंतु बाजार का शाम को समाप्त होना, बड़े नगर में दिन के 8 से 10 बजे के बीच बसों या रेलों द्वारा बाहरी भाग से भीतरी भागों में कई व्यक्तियों का एकत्र होना तथा सायंकाल में विसर्जित होना ऐसे ही उदाहरण हैं। अकाल तथा महामारी के फैलने से जनहानि भी इसी प्रकार के प्रक्रम के द्योतक हैं।

(2) **संरचनात्मक तथा क्रियात्मक दृष्टि से गुण में होने वाली परिवर्तन** - किसी भी सामाजिक इकाई में आंतरिक लक्षणों का प्रादुर्भाव होना या उनका लुप्त होना इस प्रकार के प्रक्रम के द्योतक हैं। जनतंत्र के लक्षणों का लघु रूप से पूर्णता की ओर बढ़ना ऐसा ही प्रक्रम है। एक छोटे कस्बे का नगर के रूप में बढ़ना, प्राथमिक पाठशाला का माध्यमिक तथा उच्च शिक्षणालय के रूप में सम्मुख आना, छोटे से पूजा स्थल का मंदिर या देवालय की अवस्था प्राप्त करना विकास के उदाहरण हैं। विकास की क्रिया से आशय उन गुणों की अभिवृद्धि से है जो एक अवस्था में लघु रूप से दूसरी अवस्था में वृहत् तथा अधिक गुणसंपन्न स्थिति को प्राप्त हुए हैं। यह वृद्धि केवल संख्या या आकार की नहीं, वरन् आंतरिक गुणों की है। इस भाँति की वृद्धि संरचना में होती है और क्रियाओं में भी। इंग्लैंड में प्रधानमंत्री और संसद के गुण रूपी वृद्धि (प्रभाव या शक्ति की वृद्धि) में निरंतरता देखी गई है। इस विकास की दो दिशाएँ थीं। इन्हें किसी भी दिशा से देखा जा सकता है। भारत में कांग्रेस का उदय और स्वतंत्रता की प्राप्ति एक ओर तथा ब्रिटिश सरकार का निरंतर शक्तिहीन होना दूसरी ओर इसी रूप से देखा जा सकता है। जब तक सामाजिक विकास में नई आने वाली गुण संबंधी अवस्था को पहले आने वाली अवस्था से हेय या श्रेय बताने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक सामाजिक प्रक्रम विकास व ह्रास की स्थिति स्पष्ट करते हैं।

(3) **निश्चित मर्यादाओं के आधार पर लक्ष्यों का परिवर्तन** - जब एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर जाना सामाजिक रूप से स्वीकृत वा श्रेय माना जाए तो उस प्रकार का प्रक्रम उन्नति या प्रगति का रूप लिए होता है और जब सामाजिक मान्यताएँ परिवर्तन द्वारा लाई जाने वाली दिशा को हीन दृष्टि से देखें तो उसे पतन या विलोम होने की प्रक्रिया कहा जाएगा। रूस में साम्यवाद की ओर बढ़ाने वाले कदम प्रगतिशील माने जाएँगे, अमरीका में राजकीय सत्ता बढ़ाने वाले कदम पतन की परिभाषा तक पहुँच जाएंगे, शूद्र वर्ण के व्यक्तियों का ब्राह्मण वर्ण में खान-पान होना समाजवादी कार्यक्रम की मान्यताओं में प्रगति का द्योतक है और परंपरागत व्यवस्थाओं के अनुसार अध:पतन का लक्षण। कुछ व्यवस्थाएँ एस समय की मान्यताओं के अनुसार श्रेयस्कर हो सकती हैं और दूसरे समय में उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखा जा सकता है। रोम में ग्लेडिएटर की व्यवस्था, या प्राचीन काल में दास प्रथा की अवस्था में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर भावनाएँ निहित थीं। समाज में विभिन्न वर्ग या समूह होते हैं, उनसे मान्यताएँ निर्धारित होती हैं। एक समूह की मान्यताएँ कई बार संपूर्ण समाज के अनुरूप होती हैं। कभी-कभी वे विपरीत दिशाओं में भी जाती हैं और उन्हीं के अनुसार विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों का मूल्यांकन श्रेय वा हेय दिशाओं में किया जा सकता है। जब तक सामाजिक मान्यताएँ स्वयं न बदल जाएँ, वे परिवर्तनों को प्रगति या पतन की परिभाषा लंबे समय तक देती रहती हैं।

दूसरे प्रकार के सामाजिक प्रक्रम अपने से बाहर किंतु किसी सामान्य व्यवस्था के अंग के रूप में संतुलन करने या बढ़ने की दृष्टि से देखे जा सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन चब एक संस्था के लक्षणों में आते हैं तो कई बार उस संस्था की संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था या अन्य विभागों से बना हुआ संबंध बदल जाता है। पहले के संतुलन घट-बढ़ जाते हैं और किसी भी दिशा में प्रक्रम चालू हो जाते हैं। परिवारों के छोटे होने के

साथ संयुक्त परिवार के ्ह्रास के फलस्वरूप वृद्ध व्यक्तियों का परिवार या ग्राम से संबंध बदलता सा दिखाई पड़ रहा है। सामंतशाही के सदृढ़ संबंध एकाएक उस युग के प्रमुख व्यक्तियों के लिए एक नई समस्या लेकर आए हैं। इस भांति के परिवर्तनों को समझने का आधारभूत तत्व समाज के एक अंग की पूर्वावस्था के संतुलन को नई अवस्था की समस्याओं से तुलना करने में है। इस प्रकार के परिवर्तन संतुलन बढ़ाने या घटाने वाले हो सकते हैं। संतुलन एक अंग का अन्य अंगों से देखा जा सकता है।

दो व्यक्ति या समूह जब एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वीकृत साधनों के उपयोग द्वारा प्रयत्न करते हैं तो यह क्रिया प्रतियोगिता कहलाती है। इसमें लक्ष्य प्राप्ति के साधन सामान्य होते हैं। कभी-कभी नियमावली तक प्रकाशित हो जाती है। ओलंपिक खेल तथा खेल की विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएँ इसकी सूचक हैं। परीक्षा के नियमों के अंतर्गत प्रथम स्थान प्राप्त करना दूसरा उदाहरण है। जब नियमो को भंग कर, या उनकी अवहेलना कर लक्ष्य प्राप्ति के लिए विपक्षी को नियमों से परे हानि पहुँचाकर प्रयास किए जाएँ तो वे संघर्ष कहलाएँगे। राजनीतिक दलों में प्रतियोगिता मूल नियमों को सदृढ़ बनाती हैं; उनमें होने वाले संघर्ष नियमों को ही क्षीण बनाते हैं और इस प्रकार अव्यवस्था फैलाते हैं। कभी-कभी छोटे संघर्ष बड़ी एकता का सर्जन करते हैं। बाहरी आक्रमण के समय भीतरी संगठन कई बार एक हो जाते हैं, कभी-कभी ऐसा कुव्यवस्था जड़ पकड़ लेती है कि उसे साधारण से परे ढंग से भी नहीं हटाया जा सकता। यह आवश्यक नहीं कि संघर्ष का फल सदा समाज के अहित में हो, किंतु उस प्रक्रम में नियमों के अतिरिक्त होने वाले प्रभावात्मक कदम अवश्य उठ जाते हैं।

एक समाज या संस्कृति का दूसरे समाज या संस्कृति से जब मुकाबला होता है तो कई बार एक के तत्व दूसरे में तथा दूसरे के पहले में आने लगते हैं। संस्कृति के तत्वों का इस भाँति का ग्रहण अधिकतर सीमित एवं चुने हुए स्थलों पर ही होता है। नाश्ते में अंग्रेजों से चाय ग्रहण कर ली गई पर मक्खन नहीं; घड़ियों का उपयोग बढ़ा पर समय पर काम करने की आदत उतनी व्यापक नहीं हुई; कुर्सियों पर पलथी मार कर बैठना तथा नौकरी दिलाने में जाति को याद करना इसी प्रकार के परिवर्तन हैं। दर समाज में वस्तुओं के उपयोग के साथ कुछ नियम और प्रतिबंध हैं, कुछ मान्यताएँ तथा विधियाँ हैं और उनकी कुछ उपादेयता है। एक वस्तु का जो स्थान एक समाज मे है, उसका वही स्थान इन सभी बिंदुओं पर दूसरे समाज में हो जाए यह आवश्यक नहीं। भारत में मोटर और टेलीफोन का उपयोग सम्मान वृद्धि के मापक के रूप में है, जबकि अमरीका में वह केवल सुविधा मात्र का; कुछ देशों में परमाणु बम रक्षा का आधार है, कुछ में प्रतिष्ठा का। इस भाँति संस्कृति का प्रसार समाज की आवश्यकताओं, मान्यताओं तथा सामाजिक संरचना द्वारा प्रभावित हो जाता है। इस प्रक्रिया में नई व्यवस्थाओं एवं वस्तुओं के कुछ ही लक्षण ग्रहण किए जाते हैं। इसे अंग्रेजी में एकल्चरेशन कहा गया है। कल्चर (संस्कृति) में जब किसी नई वस्तु का आंशिक समावेश किया जाता है तो उस अंश ग्रहण को इस शब्द से व्यक्त किया गया है।

जब किसी संस्कृति के तत्व को पूर्णरूपेण नई संस्कृति में समाविष्ट कर लिया जाए तब उस प्रक्रिया को ऐसिमिलेशन (आत्मीकरण) कहा जाता है। इस शब्द का बोध है कि ग्रहण किए गए लक्षण या वस्तु को

इस रूप में संस्कृति का भाग बना लिया है, मानो उसका उद्‌गम कभी विदेशी रहा ही न हो। आज के रूप में वह संस्कृति का इतना अभिन्न अंग बन गया है कि उसके आगमन का स्रोत देखने की आवश्यकता का मान तक नहीं हो सकता। हिंदी का खड़ी बोली का स्वरूप हिंदी भाषी प्रदेश में आज उतना ही स्वाभाविक है जितना उनके लिए आलू का उपयोग या तंबाकू का प्रचलन। भारत में शक, हूण और सीथियन तत्वों का इतना समावेश हो चुका है कि उनका पृथक् अस्तित्व देखना ही मानो निरर्थक हो गया है। एक भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द इसी रूप में अपना स्थान बना लेते हैं, जैसे पंडित का अंग्रेजी में या रेल मोटर का हिंदी में समावेश हो गया है। बाहरी व्यवस्था से प्राप्त तत्व जब अभिन्न रूप से आंतरिक व्यवस्था का भाग बन जाता है तब उस प्रक्रम को आत्मीकरण कहा जाता है।

एक ही समाज के विभिन्न भाग जब एक-दूसरे का समर्थन करते हुए सामाजिक व्यवस्था को अखंड बनाए रखने में योगदान करते रहते हैं तो उस प्रक्रम को इंटेग्रेशन (एकीकरण) कहा जाता है। इस प्रकार के समाज की ठोस रचना कई बार समाज को बलवान् बनाते हुए नए विचारों से विहीन बना देती है। नित्य नए परिवर्तनों के बीच एकमात्र ठोस व्यवस्ता स्वयं में संतुलन खो बैठती है। अत: अपेक्षित है कि जीवित सामाजिक व्यवस्था अपने अंदर उन प्रक्रियाओं को भी प्रोत्साहन हे, जिनसे नई अवस्थाओं के लिए नए संतुलन बन सकें; इस दृष्टि से पूर्ण संगठित समाज स्वयं में कमजोरी लिए होता है। गतिशील समाज में कुछ असंतुलन आवश्यक है किंतु मुख्य बात देखने की यह है कि उसमें नित्य नए संतुलन तथा समस्या समाधान के प्रक्रम किस स्वास्थ्यप्रद ढंग से चलते हैं। प्रत्येक समाज में सहयोग एवं संघर्ष की प्रक्रियाएँ सदा चलते हैं। प्रत्येक समाज में सहयोग एवं संघर्ष की प्रक्रियाएँ सदा चलती रहती हैं और उनके बीच व्यवस्था बनाए रखना हर समाज के बने रहने के लिए ऐसी समस्या है जिसके समाधान का प्रयत्न करते रहना आवश्यक है।